THE TIMES OF INDIA

Date: 15-06-18

Remove and REPLACE – because even small quantities of trans fat in the diet cause big damage to health

Poonam Khetrapal Singh, (The writer is Regional Director WHO South-East Asia Region)

The use of artificial 'trans fat' in edible oils imperils health. New WHO guidelines advocate for a return to better-known, traditionally used alternatives.On 14 May, the World Health Organisation called on all countries to make the world free of trans fats by 2023. A number of countries have already accomplished this, including a range of middle and lower income countries worldwide that have heavily restricted or eliminated trans fats altogether.They do so with good reason. Industrially produced trans fats are artificial compounds formed by 'partial hydrogenation of edible oils' that are harmful when consumed, even at low levels. In the South-East Asia Region, partially hydrogenated vegetable oils (PHVOs) are the primary source of trans fats in food items.Commercial food production, particularly with regard to bakery products such as biscuits and pastries, uses high amounts of PHVOs, thus increasing the risk of trans fat consumption. Changing food patterns and the popularity of processed foods is likely to increase trans fat intake. Likewise, high levels of trans fat have also been found elsewhere, especially in food produced by informal vendors. Trans fats dramatically increase the risk of heart attack.

Replacing oils containing high trans fats with healthier options will have no impact on the taste or availability of food, and will dramatically advance health and wellbeing. It will also help achieve WHO South-East Asia's regional target and Flagship Priority of reducing noncommunicable diseases by one-fourth by 2025, and then by one-third by 2030, as per the Sustainable Development Goal targets. Mustard, sunflower, rapeseed (canola), ground nut, and soya based oils are all healthier alternatives. These crops are valuable, efficient and in high demand. Importantly, the increased growth, production and use of these crops will enhance the health and wellbeing of people and align the region with the global drive to restrict trans fats and save millions of lives at virtually no cost to government or consumers.To that end, WHO's six step REPLACE action package – launched last week in Geneva – provides all countries with proven tools to completely eliminate trans fats from their national food supply and counter increasingly changing food patterns. At present, 90% of people around the world – about 6.5 billion – are exposed to these artery clogging substances, with little to no government support or alternatives offerred. WHO's REPLACE package aims to accelerate restrictions on trans fat products via an easy six step process. Each of these steps can be readily embraced, implemented and enforced, with game changing effect.

First is reviewing dietary sources of trans fats and the landscape required for policy change. Second is promoting the replacement of trans fats with healthier fats and oils. Third is legislating or enacting regulatory actions to eliminate trans fats. Fourth is assessing and monitoring trans fat content in the food supply and changes in trans fat consumption in the population. Fifth is creating awareness of the negative health impact of trans fats among policymakers, producers, suppliers and the public. And sixth is enforcing compliance with policies and regulations.If implemented effectively, the WHO REPLACE

package will ensure prompt, complete and sustained elimination of trans fats from the world's food supply, thereby driving down demand. That is a good that will give many times over, saving billions of dollars in both developed and developing economies, and slashing the rate of premature deaths worldwide. But making that happen requires more than goodwill; it requires a willingness to act, and to do so decisively.

WHO's new guidelines provide the opportunity and incentive to replace oils high in trans fats regionwide with locally made, healthy alternatives. That opportunity should be grasped, and a return to better known, traditional alternatives embraced.

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 15-06-18

अनदेखी ठीक नहीं!

संपादकीय

अमेरिका के राष्ट्रपति डॉनल्ड ट्रंप के चलते क्यूबेक में आयोजित जी-7 देशों की बैठक में अलगाव और व्यापार तथा शुल्क दरों को लेकर पश्चिमी गठजोड़ में मतांतर साफ नजर आने लगा। ऐसे में भारत को वैश्विक और क्षेत्रीय व्यापारिक गतिविधियों को लेकर अपनी स्थिति पर तत्काल नए सिरे से विचार करना चाहिए। विश्व व्यापार संगठन पर भरोसा करने अथवा मौजूदा व्यापारिक संपर्कों के भरोसे रहना एक ऐसी नीति है जिसका समय अब बीत चुका है। इस पुनर्विचार के दरमियान क्षेत्रीय व्यापक आर्थिक साझेदारी (आरसीईपी) की एक अहम भूमिका होनी चाहिए। आखिरकार आरसीईपी निस्संदेह आर्थिक एकीकरण की राह में एक बड़ा मोर्चा है। यह दक्षिण पूर्वी एशियाई देशों यानी आसियान के सदस्य देशों को उन देशों के साथ जोड़ता है जिन्होंने चीन और भारत के साथ-साथ आसियान के साथ मुक्त व्यापार समझौते पर हस्ताक्षर किए हुए हैं।

आरसीईपी देश दरअसल विश्व व्यापार प्रणाली के गठजोड़ का हिस्सा हैं। दक्षिण पूर्वी एशिया के इन देशों से बढिय़ा यातायात वाले व्यापारिक मार्ग निकलते हैं और क्षेत्र की अर्थव्यवस्थाएं जीवंत ढंग से और गतिशील अंदाज में विकसित हो रही हैं। आरईसीपी में ऑस्ट्रेलिया और इंडोनेशिया जैसे जिंस निर्यातक देश और सिंगापुर जैसे सेवा क्षेत्र के केंद्र दोनों शामिल हैं। इसके बावजूद उच्च स्तर पर भारतीय अधिकारियों ने सार्वजनिक रूप से यह संदेह जताया है कि क्या आरसीईपी वास्तव में भारत के हित में है भी या नहीं? इन आशंकाओं को खारिज नहीं किया जाना चाहिए लेकिन अब यह स्पष्ट हो चुका है कि अगर भारत आरसीईपी को त्यागता है या उसे बिना भारत की भागीदारी के आगे बढऩे देता है तो यह देश विश्व व्यापार में हाशिये पर रह जाएगा। आरसीईपी को लेकर एक चिंता जो बार-बार दोहराई जाती है वह यह है कि चीन भी इसमें प्रतिभागी होगा।

आखिरकार भारत के 83 अरब डॉलर के व्यापार घाटे में चीन की हिस्सेदारी 60 फीसदी की है। बहरहाल, चीन के आयातक और चीन की अत्यधिक क्षमता की आशंका के चलते हमें व्यापार वार्ता को नाकाम नहीं होने देना चाहिए। भारत को आपातकालीन ऐंटी डंपिंग उपायों को लेकर अपने अधिकार यकीनन आरक्षित रखने चाहिए लेकिन वह विश्व व्यापार व्यवस्था के साथ एकीकरण के फायदों की और अधिक अनदेखी नहीं कर सकता। कुल मिलाकर व्यापार समझौतों को

लेकर भारत का हालिया रुख निहायत अदूरदर्शी रहा है। उन उत्पादकों को भरपूर तवज्जो दी गई है जो प्रतिस्पर्धा का सामना करने में खुद को अक्षम पा रहे थे। इसके बावजूद उपभोक्ताओं के लाभ की काफी हद तक अनदेखी की गई है। इसके अलावा, शोध बताते हैं कि मुक्त व्यापार समझौतों (जैसा भारत का आसियान के साथ है) का भारतीय निर्यातक पूरा लाभ नहीं उठा पा रहे। ऐसे में यदि सरकार निर्यातकों को शिक्षित करती है और नए बाजार तक पहुंचाने में मदद करेगी तो यह बेहतर होगा, बजाय कि व्यापार वार्ताओं से दूरी बनाने के।

अगर भारत को निर्यात में नई जान फूंकनी है और देश में रोजगार तैयार करने हैं तो उसे घरेलू उत्पादक आधार तैयार करना होगा और उसे अधिक प्रतिस्पर्धी और निर्यातोन्मुखी बनाना होगा। ढांचागत सुधारों और व्यापार में खुलापन लाकर ही सफलता हासिल की जा सकती है। सकल घरेलू उत्पाद के हिस्से के रूप में देश के निर्यात में ठहराव आ गया है। अमेरिका में संरक्षणवादी रुख के उभार से यह पता चलता है कि अमेरिका पर भी निर्यात केंद्र के रूप में भरोसा नहीं किया जा सकता है जबकि वह उन चुनिंदा देशों में शामिल है जिनके साथ भारत का व्यापार अधिशेष है। हमें नए बाजार तलाशने होंगे। इसका अर्थ यह है कि आरसीईपी भारत के लिए केवल वैकल्पिक नहीं है। सरकार को इस प्रक्रिया में अपनी भागीदारी को नए सिरे से खंगालना होगा। अगर यह व्यापार वार्ता बिना भारत के आगे बढ़ती है तो यह निहायत बुरी बात होगी।

नईदुनिया

Date: 15-06-18

यही है भारतीयता की असली झलक

अद्वैता काला, (लेखिका ख्यात पटकथाकार व स्तंभकार हैं)

सात जून को पूर्व राष्ट्रपति प्रणब मुखर्जी ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के नागपुर स्थित मुख्यालय का दौरा किया। उन्हें एक विशेष अवसर पर वहां आमंत्रित किया था। यह मौका था आरएसएस के संघ शिक्षा वर्ग के तृतीय वर्ष कार्यक्रम में हिस्सा लेने आए स्वयंसेवकों को संबोधित करना। उनसे यही अपेक्षा की गई कि पांच दशकों के अपने सार्वजनिक जीवन में वह अपने अर्जित अनुभवों से स्वयंसेवकों का मार्गदर्शन करेंगे। उनके भाषण से पहले संघ प्रमुख डॉ. मोहन भागवत ने स्वयंसेवकों को संबोधित किया। संघ के इस आयोजन को मीडिया में भी अभूतपूर्व चर्चा मिली, जहां सभी चैनलों ने इसका सीधा प्रसारण दिखाया। उम्मीद जताई जा रही थी कि वहां कुछ हंगामाखेज सुनने को मिलेगा, लेकिन मुखर्जी ने जो बातें कहीं वे किसी युगल गीत से कम नहीं थीं। डॉ. मुखर्जी ने अंग्रेजी में दिए अपने भाषण में भारत की सभ्यता व संस्कृति की जिस निरंतरता के भाव पर जोर दिया, उसे संघ के गलियारों में सगर्व 'भारतवर्ष की संज्ञा दी जाती है। अपने भाषण से पहले मुखर्जी अपने मेजबान सरसंघचालक के साथ संघ के संस्थापक डॉ. हेडगेवार के उस घर में भी गए, जहां 1925 में विजयादशमी के दिन उन्होंने संघ की स्थापना की थी। मुखर्जी ने वहां हेडगेवार को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए विजिटर्स बुक में उन्हें भारत मां का महान सपूत बताया।

कुछ 'प्रख्यात इतिहासकारों व राजनीतिक शक्तियों द्वारा आजादी की लड़ाई में डॉ. हेडगेवार को उनके योगदान का श्रेय नहीं दिया गया। जबकि साक्ष्य दर्शाते हैं कि संघ की स्थापना के बाद उनकी गतिविधियों के चलते अंग्रेजों ने उन्हें जेल में डाल दिया था। उनके प्रति ऐसी सोच बेहद संकीर्ण और अनावश्यक ही कही जाएगी, क्योंकि स्वतंत्रता मिलने से पहले ही उनका निधन हो गया और उनके जीवनकाल में संघ की गतिविधियां मुख्य रूप से मध्य प्रांत तक ही सीमित रहीं और संगठन अपनी गतिविधियों का श्रेय लेने की स्थिति में नहीं था। लोकतांत्रिक तरीके से ही तथ्यों को उदारतापूर्वक स्वीकार किया जा सकता है, लेकिन फिर इसे क्यों नकारा जाता है और स्वाधीनता संघर्ष के दौरान भी स्वयंसेवकों के योगदान की अनदेखी की जाती है? इसके बारे में विरले ही बात होती है। हालांकि आरएसएस से जुड़ी कुछ पीढ़ियों के जेहन में तमाम बातें आज भी ताजा हैं। बहरहाल, आपातकाल के दौरान संवैधानिक मूल्यों को पुनर्स्थापित करने को लेकर आरएसएस के व्यापक रूप से स्वीकार्य प्रतिरोध की वैचारिक विरोधियों द्वारा भी भूरि-भूरि प्रशंसा की गई। यहां तक कि आपातकाल के दौर में जयप्रकाश नारायण भी संघ से खासे प्रभावित हुए।

ऐसे में यह पहलू महत्वपूर्ण था, जो डॉ. मोहन भागवत के भाषण में भी झलका। उन्होंने कहा कि संघ खारिज करने वाले विचारों को प्रोत्साहन नहीं देता, क्योंकि वह बाह्य विविधता के बावजूद इस धरती पर जन्मे प्रत्येक व्यक्ति को भारत माता की संतान मानता है। डॉ. मुखर्जी के भाषण में भी यही भाव प्रतिध्वनित हुआ था, जब उन्होंने 'सर्वे भवंतु सुखिन:, सर्वे संतु निरामया की बात कही। इसका अर्थ है कि हम समस्त संसार को एक परिवार मानते हैं और उसके सुख की कामना करते हैं। मंच पर आसीन इन दो बड़ी शख्सियतों के विचारों में सबसे बड़ा साम्य कुछ उन 'सत्यों की स्वीकृति में नजर आया, जिनमें 2500 वर्ष की राजनीतिक उथल-पुथल के बावजूद 5000 वर्ष पुरानी सभ्यता की अक्षुण्णता का उल्लेख किया गया। डॉ. मुखर्जी के भाषण की शुरुआत भारत के राजनीतिक इतिहास के विस्तृत ब्यौरे के साथ हुई। उसमें राजवंशों के साथ ही मुस्लिम आक्रांताओं और ब्रिटिश उपनिवेशवाद का भी जिक्र था। उन्होंने बताया कि ब्रिटिश राजशाही के दखल से पहले अंग्रेजी राज का स्वरूप कारोबारी था और दोनों प्रकार के शासनों में क्या अंतर था। उन्होंने माना कि ब्रिटिश या यूरोपीय परिभाषा से पहले ही भारत राष्ट्र-राज्य बन चुका था। यह निश्चित रूप से ऐसी व्याख्या थी जो स्कूलों में पढ़ाई जाने वाली और बौद्धिक विमर्श से इतर थी। वास्तव में यह सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के विचार से गहरा जुड़ाव रखती है।

भारत का विशिष्ट राष्ट्रवाद हमारे संविधान और सांस्कृतिक मूल्यों से स्थापित होता है। बहुलता इस राष्ट्रवाद का विशेष पहलू है। असल में यह संस्कृति ही है, जो देश को एक धागे में पिरोती है। पूर्व राष्ट्रपति ने दोहराया कि राष्ट्र-राज्य की पश्चिमी अवधारणा की जननी मानी जाने वाली वेस्टफेलिया संधि से पहले भी भारत में राष्ट्र-राज्य का प्रतिरूप था। वास्तव में कोई राज्य मूल्यों, समावेशन, बहुलता एवं विविधता से ही बंधा होता है। दोनों महानुभावों के विचारों में यही भाव परिलक्षित हुए। बहरहाल यह भी उतना ही महत्वपूर्ण है कि बहुलता के इस विचार में वैचारिक विविधता को भी स्वीकृति मिलनी ही चाहिए। इसका निदान भी पश्चिमी ढर्रे वाली मानसिकता में नहीं, बल्कि हमारे उसी तंत्र में निहित है जो शासन कला एवं वैचारिक अपरिहार्यता की ओर ले जाता है। संघ के इस निमंत्रण को स्वीकार करने के बाद अपनी ही पार्टी के नेताओं के निशाने पर आए पूर्व राष्ट्रपति ने अपने उद्बोधन के बाद ट्वीट किया, 'लोकतंत्र में राष्ट्रीय महत्व के सभी मुद्दों पर सार्थक एवं अर्थपूर्ण चर्चा आवश्यक है।

न केवल प्रतिस्पर्द्धी हितों को संतुलित करने के लिए, बल्कि उनमें सामंजस्य स्थापित करने के लिए भी संवाद बेहद जरूरी है। लोकतंत्र की मजबूती के लिए जरूरी है कि संवाद और सक्रियता बढ़े। हालांकि भाषणों और जुमलों में तो अरसे से इसकी दुहाई दी जाती रही है, लेकिन असल में वैचारिक छुआछूत की बुराई कायम ही रही। अपने 93 साल के इतिहास में

आरएसएस की छवि को इस कदम से मजबूती ही मिलेगी, जहां वैचारिक विरोधी को भी मंच प्रदान किया गया। इसे सकारात्मक नजरिए से देखा जाएगा। डॉ. मुखर्जी द्वार आरएसएस के आमंत्रण को स्वीकार करने के मसले पर कुछ अप्रिय टीका-टिप्पणियां भी सामने आईं। यहां तक कि उनकी पार्टी के नेता ही आनन-फानन उनसे किनारा करते नजर आए, जबकि कांग्रेस नेता के रूप में मुखर्जी का शानदार अतीत रहा है। यह पूरा प्रकरण दिखाता है कि असल में असहिष्णु कौन है। फिर एक तबके के मुताबिक यह संघ की खुद को मान्यता दिलाने या वैधता हासिल करने की एक कोशिश थी। यह वही वर्ग है जो आए दिन आरोप लगाता है कि सरकार से लेकर तमाम संस्थान संघ के इशारे पर ही चल रहे हैं। ऐसे लोगों की दोनों बातें तो सही साबित नहीं हो सकतीं। यह दलील तार्किक रूप से खरी नहीं उतरती।

इससे पहले कि इससे जुड़ी बहस जोर पकड़ती, डॉ. भागवत ने यह कहकर चीजों को शांत कर दिया कि इसके बाद भी संघ, संघ ही रहेगा और प्रणब-दा भी प्रणब-दा रहेंगे। इस पूरे आयोजन को रिकॉर्ड संख्या में दर्शकों ने देखा। प्रणब-दा अभी भी सक्रिय हैं और माइक्रो ब्लॉगिंग साइट ट्विटर पर 'सिटीजन मुखर्जी हैंडल के माध्यम से तन्मयता के साथ अपनी मौजूदगी दर्शाते हैं। यहां उन्होंने अपनी लोकतांत्रिक भावना दिखाई, दलगत संकीर्णता की दीवार को पार किया और भारतीयता के भाव से भरे रहे। वहीं डॉ. भागवत ने दिखाया कि संघ के दृष्टिकोण में उन लोगों से भी संवाद के दरवाजे हमेशा खुले रहते हैं, जो भिन्न् वैचारिक नजरिया रखते हों। उनकी देहरी पर ऐसे लोगों को भी पूरा सम्मान मिलता है।

राष्ट्रीय सहारा

Date: 14-06-18

वार्ता का अंतरराष्ट्रीय महत्त्व

सतीश कुमार

सिंगापुर में सम्पन्न वार्ता निश्चित तौर पर ऐतिहासिक मानी जा सकती है। 27 अप्रैल को दोनों कोरियाई देशो के मिलने के बाद से इस शिखर वार्ता की ओर दुनिया की निगाहें टिकी हुई थी। वार्ता इसलिए अहम है कि अमेरिकी राष्ट्रपति ने किम जोंग उन की खूब जमकर प्रशंसा की। 73 वर्षीय अमेरिकी राष्ट्रपति ने 34 वर्षीय किम को मेघावी और बुद्धिमान बतया। यह विशेषण उत्तर कोरिया के लिए काफी महत्त्व रखता है। 2017 में उत्तर कोरिया ने परमाणु मिसाइल से अमेरिका को वेधने की धमकी दी थी। दूसरी तरफ अमेरिका ने उत्तर कोरिया को बर्बाद करने की कसम खाई थी। उसके बाद अमेरिका का हृदय परिवर्तन और किम जुंग के लिए इन शब्दों का प्रयोग विश्व राजनीति के लिए मायने रखता है। शिखर वार्ता में अमेरिकी राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रंप से सुरक्षा गारंटी के एवज में उत्तर कोरिया के तानाशाह किम ने कोरियाई प्रायद्वीप के संपूर्ण परमाणु निशस्त्रीकरण का वादा किया। इस वार्ता से पूर्वी एशिया में शांति की पहल शुरू हो जाएगी। वार्ता को पूरी तरह से सफल मानना जल्दबाजी होगी। कई प्रश्न अधर में लटके हुए हैं। क्या अमेरिका आर्थिक प्रतिबंध उठा लेगा बिना पूरी तरह से निशस्त्रीकरण की प्रक्रिया पूरी हुए? क्योंकि दोनों देश की परिभाषा और समझ निशस्त्रीकरण के संदर्भ में बिल्कुल अलग है।

उत्तर कोरिया एक ही साथ अपने आणविक हथियारों को खत्म नहीं करना चाहता। उसकी सोच क्रमबद्ध तरीके से आणविक हथियारों को नेस्तनाबूद करने की है। अर्थात अमेरिका जैसे जैसे उत्तर कोरिया से आर्थिक प्रतिबंध को हटाता जाएगा, वैसे-वैसे उत्तर कोरिया हथियारों के जखीरे को खत्म करता जाएगा। दोनों की सोच में कई विसंगतियां हैं। दोनों को एक-दूसरे पर भरोसा नहीं है। उ. कोरिया की आणविक तैयारी 1950 के कोरियाई युद्ध के बाद से ही शुरू हो गई थी। इस प्रयास में उसे रूस और चीन से मदद मिली थी। 2003 में पश्चिमी दुनिया को इस बात की जानकारी मिली। उसके बाद से ही अमेरिका ने वैिक कसना शुरू कर दिया था। 2006 में उत्तर कोरिया ने पहला आणविक परीक्षण कर अपनी बात सिद्ध कर दी। तब से लेकर अमेरिकी नजरों में उत्तर कोरिया सूई की तरह चुभता रहा। स्थिति इतनी भयानक हो गई की उत्तर कोरिया अमेरिका जैसे देश को सबक सिखाने की धौंस देने लगा।यह भी सच है कि पूरी दुनिया में उत्तर कोरिया का हितैषी चीन और अमेरिका के सिवा कोई नहीं है। फिलहाल दुनिया में कई तरह के विवाद युद्ध की आशंका को पैदा कर रहे हैं। सीरिया को लेकर अमेरिका और रूस एक-दूसरे के आमने-सामने हैं। उत्तर कोरिया और अमेरिकी द्वंद्व में चीन भी शामिल है।

पूर्वी एशिया के तमाम देश भी प्रभावित हैं। इसलिए इस वार्ता का काफी महत्त्व है। प्रश्न कई हैं। पहला क्या उ. कोरिया इस वार्ता को हजम कर पाएगा? अमेरिका का इतिहास विश्वसनीय नहीं रहा है। लीबिया में अमेरिका ने यही किया था। कर्नल गद्दाफी द्वारा पूरे किए गए वादों के बाद भी अमेरिका ने किस तरह से लीबिया को बर्बाद किया और गद्दाफी को तिल-तिल कर मार डाला, यह हर कोई जानता है। किम के सामने लीबिया की दास्ता भी याद दिलाई गई होगी। उ. कोरिया की राजनीति दो अहम सिद्धांतों पर चलती रही है। पहला ‘‘जूचे’ यानी अति राष्ट्रीयता और दूसरा ‘‘सोंगम’ अर्थात सैनिक तानाशाही। अगर वार्ता द्वारा इस सिद्धांत को बदला जाता है तो इसके अहम राजनीतिक और आर्थिक परिणाम निकलेंगे। उ. कोरिया में पिछले 70 सालों से किम परिवार राजसत्ता की तरह उत्तर कोरिया में शासन कर रहा है। दोनों सिद्धांतों पर उ. कोरिया की राजनीतिक व्यवस्था चलती है। उत्तर कोरिया जैसे छोटे देश में कुल सैनिकों की संख्या 92, लाख से ज्यादा है। यह दुनिया की चौथी सबसे बड़ी सेना है, जबकि कुल आबादी महज 2.5 करोड़ है। इतनी बड़ी सेना का भरण पोषण किम जुंग के लिए मुसीबत बनेगी अगर सिद्धांतों में परिवर्तन होता है। चीन इसका अपवाद है। वहां पर साम्यवादी व्यवस्था के रहते हुए सीए पिंग जैसे नेता ने पूंजीवादी सिद्धांत खड़ा कर दिया।

क्या जुंग यह सब कर पाएंगे? वार्ता के जरिये अगर कोरियाई एकीकरण की बात आगे बढ़ती है तो दाक्षिण कोरिया के सामने भी कई मुसीबतें पैदा होंगी। उत्तर कोरिया पिछले कुछ सालों में आर्थिक रूप से पिछड़ा राष्ट्र बन गया है, जिसे एक विफल देश की संज्ञा दी जाती है, वहीं दाक्षिण कोरिया दुनिया की महत्त्वपूर्ण आर्थिक शक्ति है। अगर जर्मनी की तरह दोनों देश एक हो जाते हैं तो मुसीबतें दाक्षिण कोरिया के लिए भारी पड़ेगी। भारत ने सिंगापुर वार्ता का गर्मजोशी के साथ स्वागत किया है। इसमें भारत को कई फायदे दिख रहे हैं। पहला, अगर उत्तर कोरिया के आणविक हथियारों को खत्म किया जाता है तो इसका फायदा भारत को भी मिलेगा। पाकिस्तान और उत्तर कोरिया के बीच आणविक संबंध को दुनिया जानती है। चीन, उत्तर कोरिया और पाकिस्तान के बीच लकीर खींची गई थी, जिसका एक पहलू आणविक हथियारों की खरीद-फरोख्त भी थी। दूसरा, पिछले महीने भारत के राज्य विदेश मंत्री को उत्तर कोरिया भेजा गया था। अगर शांति वार्ता बहाल होती है तो भारत को एक बड़ा बाजार मिलेगा। तीसरा; इस पूरे परिक्रमा में चीन की अहमियत कमजोर हुई है।

अमेरिकी सेना आज भी बड़े पैमाने पर कोरियाई महाद्वीप में स्थित है। संघर्ष की स्थिति में भारत अमेरिका संबंध का दबाव चीन पर होगा। ट्रंप और किम जुंग उन की वार्ता से दुनिया की तस्वीर तो नहीं बदलेगी, मगर एक सकारात्मक

पहल होगा, जो सबके लिए फायदेमंद होगा। चीन की स्थिति उत्तर कोरिया को लेकर पहले से ही मजबूत है। वार्ता के बाद चीन का प्रभाव उत्तर कोरिया पर और बढ़ेगा। नई आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था चीन के तर्ज पर ही तैयार हो सकती है। अमेरिका को भी फायदा है। संभवत: ट्रंप की विदेश नीति की यह सबसे बड़ी जीत होगी। अमेरिका की तकरीबन 28,000 सेना पूर्वी एशिया में तैनात है। उनको वापस बुलाने से अमेरिकी खर्च कम होगा। जापान और दक्षिण कोरिया भी राहत की सांस लेंगे। किंतु सवाल अभी भी गले में हड्डी की तरह अटका हुआ है; क्या यह सब कुछ हो पाएगा?

THE HINDU

Date: 14-06-18

Green ambitions — on renewable energy targets

Policy tweaks and incentives are needed to meet the renewable energy targets

Editorial

In a surprising statement this month, Union Power Minister R.K. Singh said India would overshoot its target of installing 175 gigawatts of capacity from renewable energy sources by 2022. India was on track, he said, to hit 225 GW of renewable capacity by then. This is a tall claim, considering India has missed several interim milestones since it announced its 175 GW target in 2015. The misses happened despite renewable capacity being augmented at a blistering pace, highlighting how ambitious the initial target was. Technological and financial challenges remain: both wind and solar generation could be erratic, and India's creaky electricity grid must be modernised to distribute such power efficiently. Meanwhile, wind and solar tariffs have hit such low levels that suppliers are working with wafer-thin margins. This means small shocks can knock these sectors off their growth trajectories. The obstacles have capped capacity addition to 69 GW till date, with India missing its 2016 and 2017 milestones. To hit its 2022 target of 175 GW, 106 GW will have to be added in four years, more than twice the capacity added in the last four.

In the solar sector alone, which the government is prioritising, policy uncertainties loom large. Manufacturers of photovoltaic (PV) cells have demanded a 70% safeguard duty on Chinese PV imports, and the Directorate General of Trade Remedies will soon take a call on this. But any such duty will deal a body blow to solar-power suppliers, who rely heavily on Chinese hardware, threatening the growth of the sector. There is also the problem of the rooftop-solar segment. Of the current goal of 100 GW from solar energy by 2022, 40 GW is to come from rooftop installations, and 60 GW from large solar parks. Despite being the fastest-growing renewable-energy segment so far — rooftop solar clocked a compound annual growth rate of 117% between 2013 and 2017 — India only hit 3% of its goal by the end of 2017, according to a Bloomberg New Energy Finance report.

The reason? Homeowners aren't warming up to the idea of installing photovoltaic panels on their terraces because the economics does not work out for them. Compared to industries and commercial establishments, a home typically needs less power and will not use everything it generates. So, homeowners need to be able to sell electricity back to the grid, which in turn needs a nationwide "net-metering" policy. As of today, only a few States have such policies, discouraging users elsewhere. Such challenges can be overcome with the right incentives, but they will take time to kick in. The good news is

that even if India hits the 175 GW target, it stands to meet its greenhouse-gas emission goal under the Paris climate agreement. This in itself will be a worthy achievement. Overshooting this target will be a plus, but until the government tackles the policy challenges, it must hold off on implausible claims.

Date: 14-06-18

The missing tiers

The disempowerment and depoliticisation of urban local government has happened in multiple ways

Mathew Idiculla (Mathew Idiculla is a lawyer and researcher on urban issues and works with the Centre for Law and Policy Research, Bengaluru)

Twenty-five years ago, the Constitution underwent what is arguably its most significant transformation with the passage of the 73rd (mandating the creation of panchayats) and the 74th (creation of municipalities) Constitutional Amendments. While the 73rd Amendment came into force on April 24, 1993, the 74th Amendment came into effect on June 1, 1993. As the Central Government's Smart Cities mission completes three years this month, it's the right time to examine India's tryst with municipal governance.

Much has been written about the failure of States to implement the provisions of the 74th Amendment. However, it is important to examine concerns in the underlying constitutional design of urban local governments and the politics impeding this Amendment's operation. The "implementation failure" narrative tends to focus on how local governments are financially constrained and do not have the administrative capacity to carry out its functions. It is also important to explore how urban local governments are actively disempowered and depoliticised as an institution.

The disempowerment and depoliticisation has happened in multiple ways. First, elected representatives at the city-level are rendered powerless by making them subservient to the State government. In most municipal corporations, while the mayor is the ceremonial head, the executive powers of the corporation are vested with the State government-appointed commissioner. This disjuncture in municipal governance has been exploited by State governments to ensure that no city-level politician challenges their control over a city.

An overshadowing

Municipal corporations are further denied their political role by the continued operation of various parastatal agencies created by the State government. These may take the form of urban development authorities (which build infrastructure) and public corporations (which provide services such as water, electricity and transportation). These agencies, which function with a certain autonomy, are accountable only to the State government, not the local government. Even urban planning and land-use regulation (globally a quintessential local government function) is with State government-controlled development authorities.

While parastatal agencies and unelected commissioners are pre-74th Amendment legacies that have not been undone, what is also worrying is the further depoliticisation of local government in recent years. Central government programmes such as the Smart Cities Mission seek to ring fence projects from local government. This programme mandates the creation of special purpose vehicles (SPVs) for Smart Cities which will have "operational independence and autonomy in decision making and mission implementation". It further "encourages" a State government to delegate "the decision-making powers available to the ULB (urban local body) under the municipal act/government rules to the Chief Executive Officer of the SPV".

The creation of parallel institutions that disempower the elected local government shows how higher levels of government distrust local politics and craftily retain control of a city's reins. Even for performing functions that are within its purview (such as levying local taxes or undertaking civic projects above a certain budget) the local government requires State government permissions. Hence, municipalities are not yet autonomous units that can be genuinely called as the "third tier" of government in India's federal system. Even after the 73rd and 74th Amendments, India has effectively only two levels of government — Union and State.

Future pathways

While the 74th Amendment has become a lodestar for civic activism in many cities, it has certain inherent limitations. Many of its key provisions are not mandatory for the State government. The functions listed under the 12th Schedule — which a State government is expected to devolve to the local government — do not include essential civic issues such as urban transportation, housing or urban commons. The 74th Amendment also contains an industrial township exception whereby a municipality need not be constituted in areas which are declared as industrial townships. These provisions have been employed by State governments to keep local governments weak.

Civic activism has often been focussed on the creation of two bodies mandated by the 74th Amendment — ward committees and metropolitan planning committees. However, an over-reliance on such semi-representative bodies does not augur well for creating a genuinely democratic city government. In fact, civil society's fixation with nominating its members into ward committees can further depoliticise local governments and make them captive to the interests of certain elite resident welfare associations. Instead of distrusting them, we must acknowledge that local governments are inherently political spaces where multiple interests compete.

As cities struggle to meet the basic needs of their inhabitants, we must re-examine the existing modes of organising power in urban India. Unlike the 73rd Amendment which provides for three levels of panchayats (village, taluk, and district levels), power in urban areas is concentrated in a single municipal body (whether it is a municipal corporation, municipal council or town panchayat). However, as Indian cities have grown exponentially over the last 25 years, with some crossing the 10 million population mark, we must rethink the present model of urban governance that vests power in a singular municipality. While urban governance reforms can take multiple shapes, they must be foregrounded in the political empowerment of local government that furthers local democratic accountability.